ईशावास्योपनिषद्

हिन्दी रूपान्तर

डा. प्रेम सागर शास्त्री

ईशावास्योपनिषद्

हिन्दी रूपान्तर

डा. प्रेम सागर शास्त्री

प्रकाशक

जे. सी. पब्लिकेशन्ज

1 ई/11, स्वामी रामतीर्थ नगर,
झन्डेवालान एक्सटेन्शन
नई दिल्ली-110055

निवेदन

ईशावास्योपनिषद् शुक्ल यजुर्वेद (काण्व – शाखीय) संहिता का चालीसवां अध्याय है। वेदान्त साहित्य की इस अद्वितीय कृति को प्रथम उपनिषद् कहा जाता है। जानकारों के अनुसार पुराकाल में वेदों की ग्यारह सौ अस्सी शाखाओं की अपनी अपनी ग्यारह सौ अस्सी ही उपनिषदें थीं। आजकल एक सौ आठ उपनिषदों की बात कही जाती है। उन में से भी ग्यारह उपनिषदों की सर्वमान्यता प्रसिद्ध है। वे हैं–ईशावास्य, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, ऐतरेय, तैत्तिरीय, श्वेताश्वतर, छान्दोग्य एवं बृहदारण्यक। इन सब में भी मात्र अठारह ऋचाओं (मन्त्रों या श्लोकों) वाली ईशावास्योपनिषद् का स्थान सर्वोपरि है। इसे विश्व प्रसिद्ध श्री मद् भगवद् गीता का मूल स्रोत भी कहा जाता है।

अजाने ही बहुत से व्यक्ति इस अनुपम उपनिषद् को सांसारिकता की अपेक्षा संसार से ही परे के किसी परात्पर तत्त्व की प्रतिपादिका सिद्ध करते रहते हैं। वास्तव में इस सर्वाग्रणी उपनिषद् में जितना ''ईश'' पर परात्पर पर बल है उतना ही ''इदं सर्वम्'' पर, समग्र सृष्टि पर भी बल है। दूसरे शब्दों में कहे तो इस उपनिषद् में जीवन के क्षर, अक्षर एवं परात्पर– तीनों ही रूपों का समग्रता में ग्रहण है। कोई भी पक्ष उपेक्षित नहीं है। ऐहिक एवं आमुष्मिक दृष्टि से परिपूर्ण जीवन ही इस उपनिषद्

"त्यागपूर्वक भोग" की बात कही गई है उस का अभिप्राय कर्ममय जीवन से पलायन नहीं है, अनासक्त भोग है। इसका अर्थ कर्म का त्याग या कर्म से निवृत्ति नहीं है। कर्म तो करणीय ही है। कर्म करते हुए ही शतवर्ष या शताधिक वर्ष जीवन यापन की इच्छा प्रकट की गई है। ईशावास्योपनिषद् जीवन से भाग खड़े होने या परोपजीवी होने की नहीं अपितु पूर्ण स्वस्थ सक्रिय जीवन जीने की शिक्षा देती है। निश्शक्त, निष्क्रिय, निठल्ला, असहाय जीवन उपनिषद्कार का काम्य नहीं है।

यहां सहज ही उस प्रसिद्ध वैदिक प्रार्थना का स्मरण हो आता है जिसमें शतवर्ष या शताधिक वर्ष तक "देख सकने, सुन सकने, बात कर सकने, तथा बिना दीन भाव के जीवन जी सकने की इच्छा अभिव्यक्त हुई है।

पश्येम शरदः शतम्
जीवेम शरदः शतम्
श्रृणुयाम शरदः शतम्
प्रब्रवाम शरदः शतम्
अदीनाः स्याम शरदः शतम्
भूयश्च शरदः शतात्।। (यजुर्वेद)

कर्ममय जीवन से, अनासक्त स्वस्थ सक्रिय जीवन से अलग मोक्ष का या कहें जीवन की चरितार्थता का कोई मार्ग नहीं है। अनासक्त भाव से किया हुआ कोई भी कर्म बन्धन नहीं बनता।

अनासक्त होते ही मनुष्य निर्लिप्त हो जाता है। गीता के शब्दों में कहे तो यहाँ मनुष्य को सभी कर्म यज्ञभाव से करते रहने का निर्देश है। निष्काम कर्ममय जीवन यापन पर बल है।

कुछ विद्वान् ''एवं त्वयि नरे कर्म न लिप्यते'' का अर्थ करते समय आत्मा की निर्लिप्तता का बखान करने लगते हैं तथा ''एवं त्वयि'' इन दो शब्दों को भूलकर केवल ''नरे कर्म न लिप्यते'' पर ही बल देने लगते हैं। वह सब अपने में बहुत विद्वतापूर्ण एवं प्रभावशाली होने पर भी प्रस्तुत सन्दर्भ में नितान्त अप्रासंगिक प्रतीत होता है। यहां बात है 'त्यागपूर्वक भोग की', 'अनासक्त कर्म करने की', 'गृद्ध दृष्टि न अपनाने की'। यहां तो आत्मा की निर्लिप्तता की अपेक्षा अनासक्त भाव से कर्म करने पर बल है। उसी स्थिति में व्यक्ति निर्लिप्त बना रह सकता है।

3. आसक्ति के वशीभूत लोग तो अन्धतमावृत 'असुर्य' (या 'असूर्य') नामक लोकों में जा गिरते हैं। तीसरी ऋचा में ऐसे ही गृद्धभाव के लोगों की गर्हणा हैं ऐसे ही व्यक्ति 'आत्महन्ता'' होते हैं। दूसरे शब्दों में कहें तो ऐसे परभाग भक्षी क्षुद्रवृत्ति लोगों की अन्तरात्मा मर चुकी होती हैं। काम, क्रोध, लोभ, मोहादि के वशीभूत ऐसे ही व्यक्तियों को गीता में ''नष्टात्मा'' एवं ''अल्पबुद्धयः'' कहा गया है। देहावसान के पश्चात् यहाँ से चले जाने पर, ऐसे व्यक्ति अन्धतमावृत नरक लोकों में जा गिरते हैं।

4 – 5 चौथी एवं पांचवीं ऋचाओं में उसी ईश या परात्पर की महिमा का संकेत है जिससे प्रथम ऋचा में यह सब परिपूरित बताया गया है। वह कण कण में भी है एवं कणकणमय भी है। निकटातिनिकट भी वही है तथा दूरातिदूर भी वही। सर्वस्वरूप भी वही है तथा सर्वातिक्रामी भी वही। वही सर्व व्यापक है वही सर्व नियामक भी है। उस सब का व्याख्यान करना असंभव है। मात्र वही ही वही है। साधक का साध्य यही बोध है, यही अनुभूति है।

6 – 7 छठी एवं सातवीं ऋचाओं में इसी बोध वाले, या कहें परात्पर परम तत्त्व की सर्वस्वरूपता को जानने वाले साधक की स्थिति का चित्रण है। जब 'निज' एवं 'पर' का भेद नहीं रहता तो साधक सभी को आत्म में एवैं आत्म को सब किसी में देखने लगता है। ऐसा व्यक्ति घृणा, शोक, मोहादि से ऊपर उठ गया होता है। उसका द्वैत – भाव – बोध समाप्त हो गया होता है। भेद – बुद्धि नष्ट हो जाती है। कुछ साधकों ने इन ऋचाओं का अर्थ करते समय साधक की अनुभूति के तीन स्तरों की चर्चा की है। प्रथम स्तर है समस्त प्राणियों को आत्म में देखना। दूसरे स्तर पर आता है समस्त प्राणियों में आत्म को देखना। तीसरे स्तर पर द्वैत भाव का सर्वथा अभाव हो जाता है।

8 आठवीं ऋचा में ऐसे ही निर्द्वन्द्वावस्था को प्राप्त हुए

विमुक्त सिद्ध पुरुष की स्थिति का चित्रण है। वह देहदोषातीत हो जाता है, जीवन मुक्त कहा जा सकता है। वह उस परम पूर्ण को पा लेता है जिसने शाश्वत समयों से ''यथातथावत्'' चराचर जगत् का सृजन किया है। अर्थात् सृष्टि-प्रक्रिया अनादि एवं अनन्त है। सृजन एवं विलय से अभिप्राय किसी अजात के जन्म या जात के विनाश से नहीं है। यह तो सब कुछ का आविर्भाव एवं तिरोभाव होते रहना है व्यक्त होना एवं अव्यक्त होते जाना है। मात्र रूपान्तरित होते रहना है। यह सब कुछ शाश्वत है तथा शाश्वत समयों से यथातथावत् प्रवहमाण है। ''वेद विद्या'' (डा0 वासुदेव शरण अग्रवाल) के अनुसार, जो सामने है, वह प्रकट है, व्यक्त है उसे ''यथा'' कहा जाता है। इस ''यथा'' का मूल कहीं कुछ है, जो अप्रकट है, रहस्य मय है, गुहा-निहित है उसे ''तथा'' कहा जाता हैं यथा का निर्माण उस तथा से हुआ है।

(ग)

9-11 तथा 12-14

सिद्धावस्था पा लेने पर भी यह नहीं भूलना चाहिये कि यह सृष्टि (इदं सर्वम्) भी उतनी ही सच है जितना वह (अदः) स्रष्टा या परात्पर। ''इस'' को भी उतना ही महत्त्व देना चाहिये जितना ''उस'' को। स्वस्थ, सार्थक एवं परिपूर्ण जीवन-यापन के लिये दोनों ही अनिवार्य हैं। इसी बात को आगे की छह (9-11 तथा

12 – 14) ऋचाओं में स्पष्ट रूप से व्याख्यायित किया गया है। ये छह ऋचायें वास्तव में त्रिक्–युग्म हैं। तीन तीन ऋचाओं के दोनों त्रिक् अलग अलग एवं एक साथ इसी एक बात पर बल देते हैं।

कई पुस्तकों में इन ऋचाओं का विभिन्न धर्मग्रन्थों से उद्धरण दे देकर भिन्न भिन्न प्रकार से, बड़ा ही मोहक बखान किया गया है। संक्षेप में कहें तो यहां जीवन के ऐहिक एवं आमुष्मिक, भंगुर एवं अभंगुर, भौतिक एवं आध्यात्मिक तथा व्यष्टि परक एवं समष्टि परक दोनों पक्षों को, समान रूप से, समान भाव से, एक साथ जान लेने पर बल है। सम्यक् रूपेण परिपूर्ण जीवन जीने पर बल है।

जीवन की चरितार्थता तभी संभव है जब हम विद्या एवं अविद्या का, अभंगुर एवं भंगुर का, ज्ञान एवं कर्म का, पुरूष एवं प्रकृति का तथा स्रष्टा एवं सृष्टि का एक साथ पूर्ण रूपेण भली–भांति बोध प्राप्त कर लें। एकांगी जीवन, चाहे वह मात्र ऐहिकता पर आधारित हो चाहे मात्र आमुष्मिकता पर समान रूप से घातक हो जाता है। ईशावास्योपनिषद् के अनुसार तो मात्र विद्या एवं अक्षरोपासना मात्र अविद्या एवं क्षरोपासना की अपेक्षा अधिक घातक सिद्ध होती है। अधिक गहनान्धगर्त में गिराती है। ('अविद्या' उस क्षर, व्यक्त, लोकपक्ष से सम्बद्ध होती है जो विद्यमान नहीं रहता, प्रतिक्षण रूपान्तरित होता, अविद्यमान

होता रहता है। 'विद्या' विद्यमान परन्तु अव्यक्त सनातन परात्पर की ओर उदग्रता से सम्बद्ध होती है।) अत: दोनों को एक साथ, भली-भाँति , जान लेना, जीवन की परिपूर्णता के लिये आवश्यक शर्त है।

कुछ विद्वान इन ऋचाओं में प्रयुक्त (''ये नस्तदु व्यच चक्षिरे'' तथा ''यस्तदु वेदोभयं सह'') 'तत्' शब्द का अर्थ लगाते समय 'तनोति सर्वमिति तत्' पर जा पहुँचते हैं। इसे ब्रह्म् का निर्देशक मान कर परात्पर को जान लेने की बात उठाते हैं। वे कहते हैं कि परम तत्त्व विद्या एवं अविद्या से या संभूति एवं असंभूति से परे एक अन्य ही प्रकार का एवं अलग है। इस प्रतिपादन पर किसी को क्या आपत्ति हो सकती है। पर प्रस्तुत सन्दर्भ में पूर्ण विनम्रता से यह निवेदन है कि यहाँ प्रयुक्त 'तत्' शब्द ब्रह्म का निर्देशक नहीं है। यदि 'तत्' से यहां परात्पर का निर्देश अभीष्ट होता तो अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमृते'' के साथ साथ ही ''तत्'' से प्राप्त होने वाली मृत्यु एवं अमृतत्व के परे की किसी वैसी बात की भी चर्चा होती, जो यहां नहीं है। अत: यहाँ ''तत्'' का परात्पर अर्थ लगाना अस्थाने है, अनावश्यक है।

यहाँ प्रसंग वश 'मृत्यु' एवं 'अमृतत्व' पर भी कुछ कहना समुचित प्रतीत होता है। उपनिषद् कार कहता है कि अविद्या द्वारा नश्वर व्यक्त जगत की प्रकृति को जान लेने पर साधक

मृत्यु को तैर कर पार कर लेता है। तदनन्तर विद्या द्वारा, अविनश्वर अव्यक्त के ज्ञान द्वारा साधक अमृत को भोगता है। इस का सीधा सा अभिप्राय है कि मर्त्यलोक में सफल जीवन यापन के लिये क्षण क्षण परिवर्तन शील भंगुर जीवन की प्रकृति का या कहें कर्मलोक की वास्तविकता का सम्यक् ज्ञान परमावश्यक है। पर विद्या का ज्ञान होने पर वह सांसारिकता की चकाचौंध, हार जीत सफलता – असफलता आदि के चक्कर में नहीं फँसता। तभी इस मर्त्यलोक से पार पाकर 'अमृतत्व' का भोग संभव होता है। 'अमृतत्व' का सीधा सा अर्थ तो 'मृतत्व' से रहित होना है पर यहाँ इसका अभिप्राय अविकृत, अबद्ध, पूर्ण आयु लेना ही समुचित है। ''एतद् वै मनुष्यस्य अमृतत्वं यत् सर्वमायुरिति''। 'सर्वमायु' अथवा पूर्णायु का अर्थ है शतवर्ष या शताधिक वर्ष तक स्वस्थ, सक्रिय, सार्थक जीवन जीना। इसी उपनिषद् की दूसरी ही ऋचा में हम ''कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समा'' पढ़ आये हैं। सांसारिक एवं आध्यात्मिक दृष्टि से अविकृत, सार्थक जीवन जीना मृत्यु से पार पाना एवं अमृतत्व भोगना है। शरीर ने तो शीर्ण होना ही है। देही का देहावसान अनिवार्य है वह देह चाहे सामान्य प्राणी की हो चाहे किसी महात्मा या अवतारी व्यक्ति की। संदेह अमृतत्व की बात सोचना अयथार्थ है। जीवन की परिपूर्णता या चरितार्थता ही अमृतत्व है। वर्षों की गणना सदा गौण ही रहती है।

15 पन्द्रहवीं ऋचा प्रार्थना रूप में है। विद्या एवं अविद्या का सम्यक् ज्ञान होने पर भी, उन्हें एक साथ भली-भाँति से जान लेने पर भी *शाश्वत अथवा परम सत्य अनावृत ही रह जाता है। उसके लिये तो प्रभु की असीम, अहैतुकी कृपा ही एक मात्र अवलम्ब है।* वही जो संपूर्ण सृष्टि का स्रष्टा पोषक एवं वर्द्धक है उसी परम पिता से इस ऋचा में प्रार्थना की गई है कि 'हे दयालु ! प्रभु ! आप कृपा कर के सांसारिक माया जाल को हटा लें, हिरण्मय आवरण को दूर कर लें।' वास्तव में संपूर्ण सृष्टि व्यापार माया की चकमक ही है। इस चकाचौंध के पार देख सकना उस परात्पर मायाधीश की कृपा से ही संभव है। तभी सत्य धर्मा साधक सत्य का दर्शन पा सकता है। इस ऋचा में उसी के लिये अभ्यर्थना है।

16 सोलहवीं ऋचा में पूषन् को संबोधित इसी प्रार्थना को नया आयाम दिया गया है। पूषन् या सविता को संपूर्ण सौर मण्डल की ऊर्जा का स्रोत, उसका संवाहक, जीव मात्र का प्रसवयिता, पोषक, नियामक तथा एक मात्र द्रष्टा (ऋषि) कहकर संबोधित किया गया है। सविता ही प्रजापति है। उसी के रश्मि जाल की चकाचौंध सत्य को आवृत किये हुए है। अनावृत होते ही यह सत्य साक्षात् हो जाता है कि जो वह तेजोमय परम सत्य है ''वही तो मैं हूँ ---वह मैं हूँ -- सोऽहमस्मि।''

यहाँ यह बात ध्यान में रखना उचित होगा कि वैदिक ऋषि में अनपेक्षित विनम्रता, गलदश्रु भावुकता आदि कदाचित ही कहीं मिलेगी। उसकी दृष्टि अनाविल है। वह बिना किसी ननुनच के, बिना झिझक के सहज रूप में अपनी बात कहा करता है। परात्पर की शुभता में उसके 'कल्याणतम' स्वरूप में जीवन की मंगलमयता में ऋषि का अखण्ड विश्वास है।

17 इसीलिये समय आने पर (उदाहरण सत्रहवीं ऋचा) वह निश्शंक एवं निस्संग भाव से, बिना किसी प्रकार के भय या आशंका के, अपने पंचभूतात्मक शरीर के मूल तत्त्वों में समा जाने की बात को, अनासक्त भाव से, बिना किसी आकुलता के, कह सकता हैं उसकी तो मात्र इतनी ही प्रार्थना है कि सर्वेश्वर, सर्वान्तर्यामी, यज्ञस्वरूप प्रभु उसे, उसके कृत को, स्मरण करे। उसे अनुगृहीत करें। उसको अपनालें। उसे न तो अपने कृत पर ही कोई आशंका है तथा नही कृपालु प्रभु की कृपा पर कोई संशय। इस पर भी यह बात स्मरणीय है कि सर्वज्ञ सिद्ध पुरूष भी भगवत्कृपा को ही एक मात्र त्राता एवं उद्धारक मानता है। इस ऋचा में पंचत्व प्राप्ति पर, निर्भय भाव से, परिपूर्ण में समा जाने की स्थिति की स्वीकृति है।

एक प्रकार से उपनिषद का समापन यहीं पर हो जाता हैं इस ऋचा के तीसरे चरण को अन्तिम (चतुर्थ) चरण के रूप में दोहरा दिया गया है। यह दुहराव या आवृत्ति प्रायः समापन की

सूचिका हुआ करती है। परन्तु ईशावास्योपनिषद् इस ऋचा पर समाप्त नहीं होती। यह अकारण नहीं है। वास्तव में यह उपनिषद् व्यष्टि दृष्टि की अपेक्षा समष्टि दृष्टि से सम्बद्ध है।

(ङ)

18 अठारहवीं या अन्तिम ऋचा सामूहिक प्रार्थना के रूप में है। इस ऋचा पर विचार करते समय बहुत से पण्डित प्राय: ही यह भूल जाते है कि यह ऋचा संपूर्ण ईशोपनिषद् का या कहें सभी पूर्ववर्ती ऋचाओं का उपसंहार है। संपूर्ण उपनिषद् की सभी अठारह ऋचाओं पर पुन: एक साथ विचार करने से यह बात स्पष्ट हो जाती है।

प्रथम तीन ऋचाये समूह को संबोधित है। उनमें त्याग पूर्वक भोग की, अनासक्ति की तथा कर्म करते हुए ही शतवर्ष या शताधिक वर्ष की जिजीविषा को उचित कहा गया है। आत्मा का हनन करने वाले गृद्ध स्वभाव के व्यक्तियों की गर्हणा है। चौथी एवं पांचवी ऋचा में ''इदं सर्वम्'' रूप, सर्वस्वरूप एवं सर्वातिक्रामी का गुणगान है। छठी एवं सातवीं ऋचा में ऐसे विशिष्ट साधक की स्थिति का चित्रण है जो स्थित प्रज्ञता की अवस्था को प्राप्त हो रहा है। आठवीं ऋचा में शोक मोहादि से विमुक्त, देहदोषातीत, स्थित प्रज्ञ की स्थिति का चित्रण है। आगे की छह ऋचायें ''ईशावास्यमिदं सर्वम्'' को अविद्या एवं विद्या को, क्षर एवं अक्षर को, एक साथ समग्रता में, भली भाँति, जान

लेने पर बल देती हैं। जीवन की चरितार्थता तभी संभव है। अन्यथा जीवन एकांगी रह जाता है तथा व्यक्ति अन्धतमस में जा गिरता है।

पन्द्रहवीं एवं सोलहवीं, ऋचायें ऐसे व्यक्ति द्वारा प्रार्थना के रूप में हैं जो ''जान'' तो गया है पर फिर भी कहीं अधूरा है। परात्पर के अनुग्रह का आकांक्षी है। *परमेश्वर के अनुग्रह के बिना, उस परम प्रभु द्वारा स्वयमेव अपना लिये जाने के बिना सब कुछ जानकर भी, सब का सब अधूरा रह जाता है।* साधक यथातथा (जैसे तैसे) प्राप्य के द्वार तक तो पहुँच जाता है पर भीतर प्रवेश नहीं कर पाता। ये ऋचायें प्रभुशरण में पहुँच सकने की प्रार्थना एवं तज्जनित आह्लाद से परिपूरित है। पंचत्व प्राप्ति के समय भी अनुग्रह की यही प्रार्थना सत्रहवीं ऋचा में अभिव्यक्त है।

अठारहवीं ऋचा बहुत अर्थपूर्ण है। यह समुदाय को संबोधित नहीं है क्योंकि सब कथ्य कहा जा चुका है। यह तो समुदाय की ओर से, सार्थक सफल जीवन यापन के लिये, एक सामूहिक प्रार्थना है। इसी रूप में इस की प्रासंगिकता है। इसका सम्बन्ध संपूर्ण उपनिषद् के प्रतिपाद्य से है। प्रथम तीन ऋचाओं में जिस अनासक्ति पर बल दिया गया है, त्यागपूर्वक भोग की बात कही गई है, कर्ममय जिजीविषा पर आग्रह है, इस समापन ऋचा में उसी के आलोक में जीवन के मूल साधन धन-वैभव को सुमार्ग

से (उत्तम पथ से) प्राप्त कर सकने की कामना को प्रार्थना के रूप में अभिव्यक्त किया गया है। कुटिल कर्मों से बचे रहकर समग्र, स्वस्थ, सुचारू, जीवन जी सकने एवं उस सब की प्राप्ति हेतु सर्वदर्शी सर्वान्तर्यामी प्रभु के अनुग्रह को पाये रह सकने के लिये बार बार नमस्कार निवेदन है।

इस दृष्टि से ईशावास्योपनिषद् के प्रारम्भ में एवं समापन पर दिया हुआ शान्तिपाठ अत्यन्त महिमान्वित एवं अतिशय अर्थपूर्ण हो जाता है। यह वह ऋचा या मन्त्र है जो संपूर्ण ज्ञान-विज्ञान का या कहें समग्र स्वस्थ चिन्तन का मूल स्रोत है। यह भारतीय चिन्तन की परमोपलब्धि है। यहाँ अनन्त एवं शून्य पर्यायवाची हो गये हैं। स्वयं में परिपूर्ण हैं। अनन्त में से अनन्त निकालो तो अनन्त ही शेष रहेगा। शून्य में से शून्य निकालो तो शून्य ही शेष बचेगा, क्षरित नहीं होगा। वह परात्पर परिपूर्ण है तो यह सृष्टि भी परिपूर्ण है। ''अदः'' एवं ''इदं'' दोनों पूर्ण हैं। किसी एककी उपेक्षा दूसरे की भी उपेक्षा हो जाती है, अन्ध तमस में गिरा देती है, क्योंकि तत्त्वतः दोनों दो नहीं हैं, अद्वितीय हैं, एक ही हैं।

शान्तिपाठ ही वस्तुतः ईशोपनिषद का प्रतिपाद्य है।

कुछ व्यक्तियों को शुद्ध वेदान्तवादी दृष्टि से अठारहवीं ऋचा में (''अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्'' में) प्रयुक्त ''राये'' शब्द का अर्थ ''धन-वैभव'' लगाना अशोभन प्रतीत होता है। अतः वे इसका अर्थ ''परमधन'' (परम तत्त्व) लगाना पसन्द

करते हैं। हमारी विनम्र दृष्टि में यहीं वे उस एकांगिता का शिकार हो जाते हैं, जिसके बारे में इसी उपनिषद् की नवीं से चौदहवीं ऋचाओं में सचेत किया गया है। वे यह भी भूल जाते हैं कि यह ऋचा सामूहिक प्रार्थना है, ''अस्मान्'' के लिये है ''माम्'' के लिये नहीं है। इसी उपनिषद् की द्वितीय ऋचा में जिस कर्म को करते रहने पर बल है उसी के 'कुटिल' पक्ष से बचे रहने के लिये यहाँ प्रभु से प्रार्थना है। उसे ही दूर हटाने की बात पर बल दिया गया है। वे महानुभाव यह भी भूल जाते हैं कि यह ऐहिक देहबद्ध जीवन ही है जो हमें देहातीत का बोध कराता है। अतः इस दैहिक जीवन-यापन के उत्तम पथ (सुपथ) से प्राप्त साधनों को सम्मान की दृष्टि से देखना, उनकी प्राप्ति के लिए प्रभु से प्रार्थना करना अशोभन नहीं है। उस धन वैभव को सत्कर्मों द्वारा, कुटिल कर्मों से बचे रह कर प्राप्त कर सकने की प्रार्थना 'परम-धन' को पा सकने में बाधक नहीं हो सकती।

यह ठीक है कि मनुष्य की तृप्ति मात्र वित्त से संभव नहीं है। पर इससे जीवन यापन में वित्त की महत्ता या आवश्यकता समाप्त नहीं हो जाती। सामान्य गृहस्थियों की तो बात ही क्या, साधु-सन्तों एवं महात्माओं के छोटे बड़े मठ एवं आश्रम आदि भी धन के आधार पर ही चलते हैं। एकान्त वासी, स्वल्पाहारी, वीत राग महापुरूषों के लिए भी यत्किंचित् वित्त का आधार अनिवार्य होता है। जहाँ तक अर्थ के प्रति लोलुपता की बात

है उसकी गर्हणा प्रथम ऋचा में ही मिल जाती है। उसी धन को, कुटिल कर्म से बचे रहकर, उत्तम पथ से प्राप्त कर सकने की प्रार्थना में सारी बात संतुलित हो जाती है।

हमारी विनम्र दृष्टि में यह उपनिषद् ''अद:'' एवं ''इदं'' के प्रति, परात्पर एवं ऐहिक जीवन के प्रति स्वस्थ, संतुलित एवं सार्थक दृष्टि प्रदान करने वाली उच्चतम अध्यात्म की प्रतिपादिका कृति है। इसे विश्व प्रसिद्ध श्री मद् भगवद् गीता का मूल स्रोत समझा जाना उचित ही है।

इत्यलम्।

विनीत

प्रेमसागर शास्त्री

13.4.93

पुनश्च :

निवेदन लिखते समय अपनी बात को स्पष्ट करने के लिये यत्र तत्र कुछ प्रचलित धारणाओं का खण्डन करना पड़ा हैं। उद्देश्य केवल इतना सा ही है कि अपनी बात निर्भ्रान्त एवं सुस्पष्ट हो सके। किसी भी महापुरूष की यत्किंचित् भी अवमानना यहां अभीष्ट नहीं है। फिर भी यदि किसी बात से किसी को भी, कोई तनिक सा भी, आघात पहुँचा हो तो मैं कर बद्ध, नतशिर क्षमा प्रार्थी हूँ।

साधकों, सिद्ध पुरुषों या महात्माओं द्वारा किसी श्लोक या श्लोकांश के व्याज से जो स्वोदभूत, प्रबोधन, प्रवचन दिये जाते हैं वे अपने स्थान पर अमूल्य होते हैं। उनका उसी रूप में ग्रहण मनन-चिन्तन आदि अभीष्ट फलदायक हुआ करता है।

इति शमिति।

अब इस हिन्दी रूपान्तर के बारे में– ''ईशावास्योपनिषद्'' का हिन्दी रूपान्तर प्रस्तुत करते समय मन में बड़ी झिझक रही। प्रारम्भ से ही यह सुनता-पढ़ता आया हूँ कि श्रुति-साहित्य शब्द-प्रधान होता है। शब्द का शुद्ध, स्पष्ट, सस्वर उच्चारण ही काम्य है। यह तो लोक है जिसमें अर्थ या कथ्य प्रधान होता है शब्द नहीं। साहित्य में दोनों का सह भाव होता है, इसी से वह साहित्य कहलाता है। इस मान्यता के आधार पर शब्द-प्रधान श्रुति-साहित्य का अन्य भाषा में (अन्य शब्दों में) रूपान्तर प्रस्तुत करना यहीं निषिद्ध हो जाता है। न वह संभव रहता है न अभीष्ट।

बड़े बड़े विद्वानों से यह भी सुना था कि पूर्ववर्ती ऋचा एवं परवर्ती ऋचा में, यहां तक कि एक ही ऋचा के एक चरण से दूसरे चरण में कितना ही बड़ा अन्तराल या अर्थ गर्भ मौन हुआ करता है, या हो सकता है। कितना ही कुछ अकथित द्रष्टा ऋषि के अन्तस् में ही घटित हो गया हो सकता है। उच्चतर धरातल पर उदात्ततम क्षणों में साक्षात् कृत ऋचाओं का प्रतिपाद्य न

किसी पद्धति विशेष का अनुगामी होता है तथा न ही उनमें सामान्य पुस्तकों का सा तारतम्य खोज पाना ही सुगम है। ''वैदिक साहित्य: महिमा एवं दुरूहता'' शीर्षक अपने एक लेख में मैंने स्वयं इस विषय पर यत्किंचित् विचार किया है। यह सब होते हुए भी ''ईशावास्योपनिषद्'' में ही कुछ ऐसा है जिसने मुझे आविष्ट सा करके यह हिन्दी रूपान्तर करवा लिया। रूपान्तर कर लेने पर भी लगभग दो वर्ष तक इस पर पुनः पुनः विचार करता रहा। कुछ एक सुधी मित्रों को यह रूपान्तर तथा 'निवेदन' के रूप में टिप्पणी सुनाई भी। पर झिझक बनी रही।

फिर विचार आया कि मुझ से पूर्व भी अगणित महापुरूषों, साधुसन्तों, विद्वानों एवं सामान्य व्यक्तियों ने यह जोखिम उठाया है। अनन्त आकाश में ऊँची से ऊँची उड़ान भरने वाले पक्षियों में से चाहे कोई भी उसकी इयत्ता न माप सके, पर उड़ान भरने पर तो कोई रोक नहीं। न सही वैनतेय की गगन चुम्बी उड़ान नन्हीं चिड़िया की घर मुण्डेर के आसपास की फुरकन फुदकन की भी तो अपनी सार्थकता हैं

'पतन्ति खे ह्यात्मसमं पतत्रिणः।'

~~लेखक~~

अन्त में –विनत हूँ उन सभी साधकों, सुधीजनों एवं पण्डितों के प्रति जिनकी रचनाओं के अध्ययन से प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप में इस प्रयास में सहायता मिली।

आभारी हूँ उन सभी सहृदय साथियों का जिन्होंने यह बड़े स्नेह एवं आत्मीयता से सुना एवं सुझाव दिये। इस सन्दर्भ में डॉ० चरणदास शास्त्री, श्रीयुत भारत भूषण, डा० वीरेन्द्र मेंहदीरत्ता, डा० कान्ता मेंहदीरत्ता, डा० यादवेन्द्र शर्मा जैसे मित्रों का स्मरण अनायास आ जाता है। चाहता था कि श्रीयुत यशदेव शल्य एवं प्रिंसीपल रा० ना० माटा को भी यह सुना पाता पर यह न हो सका।

मेंहदीरत्ता दम्पती ने बड़े संकोच से जो सुझाव दिया उसका परिणाम है ''पुनश्च'' के रूप कुछ पंक्तियां।

विशेष आभारी हूँ जे० सी० पब्लिकेशन्स के श्रीयुत जगदीश जी गोयल का, जिन के सौजन्य से इस महान उपनिषद् का यह हिन्दी रूपान्तर आपके हाथों में है। प्रभु का वरद हस्त उन पर सदैव बना रहे।

ॐ ! शान्ति

ले०

ईशावास्योपनिषद्

हिन्दी रूपान्तर

शान्ति पाठ

ॐ ! पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।।

ॐ ! पूर्ण है वह पूर्ण है यह पूर्ण से ही पूर्ण हो जाता
पूर्ण में से पूर्ण-लेकर पूर्ण ही अवशेष रह जाता।

1 *ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्।*
तेन त्यक्तेन भुंजीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम्।।

जो कुछ भी इस जग में है जग रूप चराचर
सब कुछ ईश्वर आवासित ईश्वर प्रदत्त है।
अतः त्याग पूर्वक भोगो आसक्त न हो तुम
यह धन किसका हुआ आज तक ? किसका होगा ?

2 *कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।*
एवं त्वयि नान्यथेतो ऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे।।

कर्म करो करते करते ही जीना चाहो
सौ वर्षों भर जीना चाहो अनासक्त हो।

प्रभु का है सब ऐसा करते नहीं बँधोगे
अनासक्ति से भिन्न न कोई मार्ग मोक्ष का।।

3 *असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः।*
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः।।

ओ आसक्त विषय भोगी आत्मा के हन्ता
वे सब मरकर असुर लोक में जाकर गिरते
असुर लोक तो गहन तमावृत नरक लोक है
क्षुद्र जीव मर बारम्बार वहीं जा पड़ते।।

4 *अनेजदेक मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत्।*
तद्धावतो ऽन्यानत्येति तिष्ठत् तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति।।

परमेश्वर तो एक, अचल, मन से भी द्रुत है,
ज्ञान रूप वह आदि अगम वह देवों को भी।
वह स्थिर, तदपि तीव्रगति वालों का अतिक्रामी
वायुमेघ जल बरसाते उसके ही कारण।।

5 *तदेजति तन्नैजति तद् दूरे तदु अन्तिके।*
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाहयतः।।

चल भी है वह परमेश्वर वह सदा अचल भी,
दूर दूर भी वही तथा अति निकट भी वही,।

वही सभी के भीतर कण कण में विराजता
वही व्याप्त है बाहर सब के सभी ओर से।।

6 *यस्तु सर्वाणि भूतानि – आत्मन्येवानुपश्यति।*
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते।।

जो प्राणी सब जीवों को निज में ही देखे
औ देखे निज को भी सारे ही जीवों में
अपने को ही सब में सब को अपने ही में
सर्वरूप वह कभी किसी से घृणा न करता।।

7 *यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद् विजानतः*
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः।।

जिस ज्ञानी के सभी जीव बन गये आत्म ही
भेद मिटा सब ही सर्वेश्वर रूप हो गये
उसे भला क्या मोह ? शोक भी उसको कैसा ?
वह तो देखे एक उसे सब ओर सब कहीं।।

8 *स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणम्*
अस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्
कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूः
याथातथ्यतो ऽर्थान् व्यदधात् शाश्वतीभ्यः समाभ्यः।।

वह तो पालेता उस तेजोमय अदेह को
पूर्ण, स्वयं भू, पाप रहित, कवि को मनीषि को
जिसने रचे सभी जड़ चेतन यथातथावत्
शाश्वत समयों से, जो सब के भीतर बाहर।।

9 *अन्धं तमः प्रविशन्ति ये अविद्यामुपासते*
ततो भूय इव ते य उ विद्यायां रताः।।

जो उपासना करते मात्र अविद्या ही की
कर्मक्षेत्र की, उसके विविध अनुष्ठानों की
अन्ध तमस में गिरते वे सब, अधिक वे गिरें
जो उपासना करते हैं केवल विद्या की।।

10 *अन्यदेवाहु विद्यया अन्यदाहुरविद्यया*
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद् विचर्चक्षिरे।।

विद्या का तो अपना ही फल भिन्न भाँति का
तथा अविद्या का भी फल है भिन्न भाँति का।
यह सब धीर महापुरूषों ने हमें बताया
भली भाँति व्याख्यायित कर के स्पष्ट रूप से।।

11 *विद्यां चाविद्यां च यस्तद् वेदोभयं सह*
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते।।

विद्या को भी तथा अविद्या को दोनों को
एक साथ जो भली भाँति जाना करता है
वही मृत्यु को पार करे कर्मों के बल से
और ज्ञान के बल से अमृत भोग भोगता।।

12 *अन्धं तमः प्रविशन्ति ये ऽसम्भूतिमुपासते*
ततो भूय इव ते तमो य उ सभूत्यां रताः।।

जो सेवा करते क्षर देव पितर–मनुजों की,
असम्भूति की, अन्धतमस में वे जा गिरते,
उनसे अधिक गिरे वे जो अक्षर में रत हैं
असम्भूति को तज केवल सम्भूति में रमें।।

13 *अन्यदेवाहुः सम्भवादन्यदाहुरसम्भवात्*
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद् विचचक्षिरे।।

भिन्न भाँतिका फल देती अक्षरोपासना
क्षरोपासना से भी फल हो भिन्न भाँति का
यह सब धीर महापुरूषों ने हमें बताया
भली भाँति व्याख्यायित करके स्पष्ट रूप से।।

14 *सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयं सह*
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्या ऽमृतमश्नुते।।

जो अविनश्वर को जाने और' नश्वर को भी
एक साथ दोनों को जाने भली भाँति से
पार करे वह मृत्युभाव नश्वर के बल से
अविनश्वर के बल से अमृत भोग भोगता।।

15 *हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्*
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्य धर्माय दृष्टये।।

स्वर्ण यवनिका से आवृत है परम सत्य वह
हे पूषन् ! भर्ता ! पोषक ! मेरे परमेश्वर !
सत्य धर्म के दर्शनार्थ आवरण हटाये
देख सकूँ जिससे वह सत्य अनावृत अनुपम।।

16 *पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजापत्य व्यूह रश्मीन् समूह*
तेजो यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि योऽसावसौ पुरूषः
सोऽहमस्मि।।

हे पूषन ! हे एक मात्र, ऋषि, सर्वनियामक
रश्मिजाल को लें समेट, हे सूर्य, प्रजापति।
जिससे दर्शन पाऊँ तेरे अतिशय शुभ जो
परम पुरूष तेजोमय जो, मैं भी तो वह हूँ।।

17 *वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तं शरीरम्*
ॐ क्रतो स्मर कृतं स्मर, क्रतो स्मर कृतं स्मर।।

नश्वर मेरा प्राण अनश्वर वायु में मिले
भस्म रूप हो जाय देह कुछ भी न शेष हो
यज्ञ रूप प्रभु ! मेरा स्मरण करो करूणामय
मेरे कर्मों को देखो, प्रभु ! मुझे मुक्ति दो।।

18 *अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्*
युयोध्यस्मद् जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम।।

अग्निदेव! ले चलो हमें उस उत्तम पथ से
धन पायें, पर कुटिल कर्म से दूर ही रहें
तुम समक्ष दर्शी ज्ञाता सारे कर्मों के
नमस्कार हो देव ! तुम्हें फिर नमस्कार हो।।

(यजुर्वेदीय ईशावास्योपनिषद् समाप्त।)

शान्ति पाठ

पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।।

पूर्ण है वह पूर्ण है यह पूर्ण से ही पूर्ण हो जाता
पूर्ण में से पूर्ण लेकर पूर्ण ही अवशेष रह जाता।

ॐ शान्ति ! ॐ शान्ति ! ॐ शान्ति ।

प्रकाशक

जे. सी. पब्लिकेशन्ज

1 ई/11, स्वामी रामतीर्थ नगर,

झन्डेवालान एक्सटेन्शन

नई दिल्ली-110055